दो अवतार, दो विचित्र धाराएँ

प्रो० वी० वेंकटाचलम

[संस्कृत के विख्यात विद्वान् और डॉ० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के भूतपूर्व कुलपति।]

दिनांक १६.८.१९९८ को ज्ञान-प्रवाह वाराणसी में दिये गये व्याख्यान का सारांश

दोनों अवतारों की तुलना के लिए तमिल भाषा की एक अत्यन्त प्रसिद्ध लोकोक्ति है, जो हर एक के मुँह में है। मैं मानता हूँ इस लोकोक्ति में, इन दोनों अवतारों के मौलिक अन्तर को मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है। एक विचित्र-सी बात बड़े विलक्षण ढंग से कही गयी है। कहते हैं - राम ने जो किया, उसको करो और कृष्ण ने जो कहा, उसको करो। दोनों में अन्तर का सारा रहस्य इसमें आ गया है। ऐसा नहीं कहा कृष्ण ने जो किया, उसको करो। क्या कारण है ? दोनों में यही तो अन्तर है कि राम ने जो जो किया वह पूरा-पूरा आचरण मानव मात्र के करने योग्य है। मानव जाति के लिए आदर्श है। उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसको आप हम नहीं कर सकते हैं। इसीलिए राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। लेकिन कृष्ण के सम्बन्ध में यह कहना कठिन तो क्या, असंभव है। क्यों कि श्रीकृष्ण जैसे महायोगेश्वर ही वह सब कार्य - असंख्य महाबली राक्षसों एवं अन्य दुष्ट शक्तियों को समाप्त करना, कालिय नाग के फनों पर नाचना, कामगन्धहीन महारास में सोलह हजार एक सौ आठ प्रेयसियों के पास उतने ही रूपों में एक साथ रहना, आज तक समग्र मानवजाति को जीवन-कला सिखलाने वाला गीतोपदेश का प्रवर्तन आदि कर सकता है। अत: कृष्ण ने जो जो किया उसको करने का उद्यम ही व्यर्थ होगा। परन्तु कृष्ण ने जो जो कहा है, उसीको करना है। यानी इन दोनों में अन्तर यह है कि एक ने अपने जीवन के अन्दर अपने उदात्त आचरण के माध्यम से अपने आदर्श चरित्र के माध्यम से, उपदेश दिया है सारी जनता को, सारे समाज को। इसके विपरीत दूसरे ने जो कहा है उसको हमलोग यदि कर पायें तो जीवन धन्य हो जायेगा। ध्यान रहे, उनके उपदेश को एक तरफ कर यदि उनके आचरण का खोखला अनुसरण करने की चेष्टा करोगे तो अनिष्ट होगा। अत: यह तमिल लोकोक्ति हमको चेतावनी देती है कि वैसी भूल मत करो।

इसके पीछे कारण भी बहुत स्पष्ट है। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने शत-प्रतिशत एक मनुष्य के रूप में इस दुनिया में जो जीवन जिया। मनुष्य के रूप में ही उनका सारा आचरण है। कभी

भी अपने भगवत्त्व को, अपने ईश्वरावतारत्त्व को प्रकट करने की या उसके आधार पर कार्य करने-कराने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। मनुष्य-मात्र में सुलभ जितनी भी कमियाँ हैं, जितनी भी कमजोरियाँ हैं उन सब के अधीन रहते हुए ही उन्होंने अपना सारा जीवन जिया। क्या रामचन्द्र जी के लिए ऐसा कुछ काम करना कठिन या असम्भव था जो श्रीकृष्ण कर सकते थे? वे भी तो ईश्वरावतार थे। ईश्वरावतार के रूप में ऐसे सब काम वे भी अवश्य कर सकते थे। कहीं-कहीं जाने-अनजाने उनके हृदय से ऐसे कुछ शब्द फूट पड़ते थे जहाँ उनका मानुषत्त्व थोड़ा सा दबा रहता और उनका ईश्वरत्त्व ऊपर उभर आजाता था। अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि हैं अनेक उदाहरण वाल्मीकि-रामायण में। मैं एक ही उदाहरण दे रहा हूँ। पूरी सेना एवं सेनानायकों के साथ समुद्र के सामने सभी लोग खड़े हैं। समुद्र को पार करने के लिए समुद्र से जगह माँग रहे हैं राम। समुद्रराज प्रकट नहीं हो रहा है। तब रामचन्द्र जी के क्रोध की ज्वाला भड़कती है। उस समय उनकी जो बात है वह कोई साधारण मनुष्य की बात नहीं है। तब उनका प्रच्छन्न ईश्वरावतार बोलने लगता है। पास में खड़े लक्ष्मण से राम कहते हैं, भाई लक्ष्मण! इस समुद्र का कितना घमण्ड है देखो। मेरी क्षमा-भावना को मेरी अशक्ति समझ बैठा है। लाओ मेरा धनुष-बाण। मैं इसे अपनी वास्तविकता दिखाता हूँ। बाणों से समुद्र की मर्यादाओं को ही तोड़ दूँगा। पूरी वानर सेना को अब पाँव-पाँव ही सागर को पार करने दो। आगे ब्रह्मास्त्र का सन्धान करते हुए समुद्र-राज को भी उसी धुन में कहते हैं - अरे क्षुद्र समुद्र ! अब पाताल समेत मैं तुम्हारा शोषण करने वाला हूँ। अब एक धूल का पहाड़ उठ खड़ा होगा। सारे वानर लोग पैदल जायेंगे लंका।

अथ त्वां शोषयिष्यामि सपातालं महार्णव।
मया शोषित सत्त्वस्य पांसुरुत्पद्यते महान्॥
पारं तेऽहम गमिष्यन्ति पद्भिरेव प्लवङ्गमाः॥

यद्यपि राम के ईश्वरत्त्व के सम्बन्ध में हमारी भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण में और पाश्चात्य आधुनिक समालोचकों एवं विचारकों, जो रामायण पर लिखते रहे हैं, के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर भी है। क्योंकि हमारे जो पारम्परिक व्याख्याता हैं, वे व्याख्याता राम को केवल मनुष्य के रूप में मानने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। श्रीराम को ईश्वर के रूप में तो हम लोग मानते ही हैं। उनके आचरण को एक साधारण या विशिष्ट मनुष्य के कार्य के रूप में मानने को तैयार नहीं होते। इसीलिए वाल्मीकि रामायण के पारायण के प्रारम्भिक मंगलाचरण

का एक पद बहुत ही विचारणीय है। छोटा सा अनुष्टुप है,

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचतेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥

स्मार्त परम्परा के अनुसार वाल्मीकि-रामायण के पारायणी की प्रस्तावना के अन्तर्गत यह पद्य है। इसका अर्थ इस प्रकार है - समस्त वेदों में जिस परमात्मा परम पुरुष की चर्चा है, उसने जब दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म लिया, तब वाल्मीकि के मुखारविन्द से रामायण के रूप में साक्षात् वेद ही निकल पड़ा। वेद के इस चामत्कारिक आविर्भाव के लिए वाल्मीकि अवश्य कारण बने ठीक है। किन्तु यह हुआ कब ? उसका मूल कारण क्या था ? इसका उत्तर है - स्वयं परमपुरुष पुरुषोत्तम भगवान् श्रीमन्नारायण जब दशरथ-पुत्र के रूप में संसार में आये। इसका भावार्थ यह है कि रामायण कोई राम की कथा मात्र नहीं है। वह तो वेद का ही नया संस्करण है जो वाल्मीकि के द्वारा सम्पादित हुआ। वेद का सारा अर्थ और रहस्य वाल्मीकि रामायण में छिपा पड़ा है।

दक्षिण के एक प्रसिद्ध विद्वान् का इस पद्य पर मौलिक चिन्तन हमारे लिए मननीय है। उनके गम्भीर मनन ने इस पद्य के अन्दर एक दूसरा भी अर्थ खोज निकाला। यहाँ उसका उल्लेख करना उपयोगी होगा। उन्होंने कहा है कि इस पद्य के पूर्वार्ध में पदों के अन्वय में थोड़ा परिवर्तन करने पर दूसरा तात्पर्य स्पष्ट होगा। वेदवेद्य परम्-पुरुष जब दशरथ के रूप में जन्मा, इसके स्थान पर जब दशरथ का पुत्र वेदवेद्य परम्-पुरुष हो गया, ऐसी वाक्य रचना करेंगे तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा - जब एक साधारण मनुष्य के रूप में जन्मा दशरथ का पुत्र अपने आदर्श जीवन एवं मर्यादा पालन से स्वयं पुरुषोत्तम नारायण की ऊँचाई तक पहुँचे, तब वेद रामायण बन गया। अर्थात् वाल्मीकि रामायण के अन्दर एक ओर उतार है, दूसरी ओर चढ़ाव। परमात्मा श्रीमन् नारायण मनुष्य के रूप में आये, यह उतार है। साधारण मनुष्य के रूप में जन्मे राम स्वयं परमेश्वर बने, यह चढ़ाव है। इस पद्य के ये दोनों अर्थ इसके अन्दर लगते हैं, और दोनों ही सही हैं। क्योंकि एक साधारण पुरुष के पुरुषोत्तम बनने की कथा ही वाल्मीकि रामायण है। यह हुई भगवान् श्रीरामचन्द्र की स्थिति।

इसके विपरीत जब हम श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के बारे में सोचने लगते हैं तो वहाँ आदि से अन्त तक अलौकिकता एवं अतिमानुषता कूट-कूट कर भरी पड़ी है। आप श्रीकृष्ण के जीवन को देखें। जन्म होने के पहले, जन्म होने के बाद और अन्तिम क्षण तक केवल अद्भुत

ईश्वरी शक्ति से साधे जाने वाले कार्यों से उनका सारा जीवन भरा पड़ा है। मायावी राक्षस-राक्षसियों के साथ युद्ध करते रहे, शैशव, बाल्यकाल से लेकर किशोर होने तक कैसे-कैसे अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाया। दिव्य प्रभाव दिखा कर उन सब आसुरी शक्तियों को ध्वस्त किया। इधर अपनी माँ को अपने ही मुँह में सारे चतुर्दश लोकों का दर्शन कराया। लेकिन उसके साथ-साथ उनकी ईश्वरी शक्ति एवं सामर्थ्य को माँ से छिपा रखने का कार्य भी उस नन्हें बालक ने अपनी उसी शक्ति के बल पर किया। कृष्ण ने पुरुषोत्तम के रूप में पृथ्वी में विचित्र लीलाएँ की हैं। जैसे हम श्रीकृष्ण की लीला कहते हैं, वैसे राम की लीला प्राय: नहीं कहा जाता। राम तो मनुष्य का उत्तम रूप, चरित्र एवं व्यवहार प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण की तो पद-पद पर दिव्य लीला ही लीला है। इसलिए उत्तर-भारत के वैष्णव सम्प्रदाय में इस बात को बहुत जोर दे कर कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् का पूर्णावतार हैं।

श्रीकृष्ण को जहाँ पूर्णावतार माना जाता है राम और अन्य अवतारों को अंश कला या अंशावतार कहते हैं। इस चिन्तन की दक्षिण में प्रसिद्धि नहीं है। लेकिन यहाँ 'एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' - श्रीमद्भागवत् के इस वाक्य को विशेष महत्व देकर कहा जाता है कि यदि किसी अवतार में पूरे-पूरे ईश्वरत्व का प्रकटीकरण कहीं हुआ हो, तो वह कृष्ण में ही राम या किसी अन्य में नहीं। हम लोग यह जानते हैं कि शक्ति प्रकट हो या न हो, शक्ति प्रसुप्त हो या अभिव्यक्त, शक्ति तो उनकी उतनी ही है, उसमें लेश मात्र की कमी नहीं हो सकती है, यदि राम को अवतार मानेंगे। यदि राम को आप मानते हैं कि केवल एक साधारण मानव एवं दशरथ का सीधा-सादा पुत्र, तब बात अलग है। राम ने स्वयं ही कहा था - 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्'। जब सीता का परित्याग करने की घड़ी आई, तब उनको मनाने के लिए ब्रह्मा जी सहित देवता लोग उपस्थित होते हैं और उनसे कहते हैं - आप यह क्या करने जा रहे हैं ? आप तो स्वयं ईश्वर हैं। आप जानते ही हैं कि सीता सर्वथा पवित्र हैं। तब रामचन्द्र का यह उत्तर था वाल्मीकि रामायण में 'मैं तो स्वयं को दशरथ का लड़का साधारण मनुष्य मानता हूँ'।

अवतार की इन दोनों धाराओं में इतना गहरा अन्तर होते हुए भी दोनों की एकता का अनुभव भी हमारे देश के पूर्वयुगीन मनीषियों ने किया है। वह भी अनेक प्रकार से। उदाहरणार्थ कवियों ने कल्पना का आश्रय लिया। महान् कृष्ण भक्त लीलाशुक की रचना दक्षिण में नितान्त लोकप्रिय है। 'श्रीकृष्णकर्णामृत' नाम का बहुत ही मधुर काव्य है यह। एक-एक पद्य आप सुनते जाइये और रस में डूबते ही जाइये। जैसा कि अमरुक कवि के एक-एक पद्य,

एक-एक महाकाव्य जैसा या सौ-सौ काव्यों के बराबर कहा गया है - 'प्रबन्धशतायते' - वही बात 'कृष्णकर्णामृत' पर भी उतना ही यथार्थ है। अनूठी कल्पना यहाँ पद-पद पर है। उनमें से एक श्लोक इन दोनों अवतारों की एकता को बहुत ही हृदयग्राही ढंग से प्रतिपादित करता है। कवि की अद्भुत कल्पना इस प्रकार से है। यशोदा श्रीकृष्ण को सुला रही है। सुलाते-सुलाते उनको रोज एकाध कहानी सुनानी पड़ती है। उसे लोरी के रूप में गाती है वह। कहानी ही कहनी है तो कृष्ण के पूर्व काल के किसी की कहानी ही तो हो सकती थी। एक दिन राम कथा की बारी आ गयी। किन्तु उस दिन कैसी विचित्र घटना घटी इस प्रश्न का समाधान कवि की कल्पना ही कर सकती है। राम की कहानी सुनाते-सुनाते लोरी गाती है यशोदा और अपने लाडले पुत्र को झूला झुलाती हैं। दूसरी तरफ बालकृष्ण हुँ हुँ कर एक एक वाक्य सुनता जा रहा है - 'रामो नाम बभूव', 'हुँ', 'तदबला सीतेति', 'हुम्' - राम नाम का एक था राजा। 'हुँ'। उसकी पत्नी का नाम था सीता। 'हुँ'। उसके बाद धीरे-धीरे कहानी आगे बढ़ती है। 'तौ पितु: वाचा पञ्चवटी वने विहरत:'। पिता के वाक्य का परिपालन करते हुए ये दोनों पञ्चवटी के जंगलों में घूम रहे थे। 'हुँ'। उसको भी सुन लिया। उसके बाद माँ आगे कहती है - 'तामाहरद् रावण:'। उस सीता का एक क्रूर राक्षस रावण ने अपहरण कर लिया। जब यह सुना उस दैवी बच्चे ने, तब उससे रहा नहीं गया। तो झट से वहाँ वह राम बन गया और पुराने संदर्भ में ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता है - 'सौमित्रे ! क्व धनु: धनु: धनुरिति' रोष और आवेग के साथ तुरन्त पुकारता है वह बच्चा जो अब स्वयं ही राम हो गया। अरे लक्ष्मण! कहाँ हो ? अरे लक्ष्मण ! मेरा धनुष कहाँ है ? धनुष लाओ, धनुष लाओ ऐसा कह कर चिल्लाने लगता है वह नन्हा कृष्ण-राम बालक। कवि भक्त प्रार्थना करते हैं - इस बच्चे के जो धनुष, धनुष ऐसे अपूर्व संरंभ भरे शब्द हैं, वाक्य हैं, वह हम सब की रक्षा करें। इस प्रकार कवि ने यहाँ पर रामावतर और कृष्णावतार, इन दोनों की एकता को अपने काव्य में मधुर रीति से व्यक्त करने का बहुत ही सुन्दर प्रयास किया है।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। राम और कृष्ण की एकता की बात तो ठीक है। किन्तु जरा स्वयं सोचिये, क्या जिस प्रकार की कल्पना बालक कृष्ण के साथ कवि ने यहाँ की है, क्या वैसी कल्पना बालक या युवा राम के साथ कोई कवि करेगा ? नहीं, सर्वथा नहीं। कारण स्पष्ट है। राम का समग्र जीवन एक सामान्य मानव का जीवन था। उसमें किसी भी प्रकार की ईश्वरी लीला की बात अनौचित्यपूर्ण होगी और जँचेगी ही नहीं। राम और कृष्ण का मौलिक अन्तर यही है।

कविता की अवधारणाएँ, कल्पना की सीमाएँ अनन्त होती हैं। उत्तर भारत के एक कृष्ण-भक्त कवि ने अवतारों की ऐसी एकता का अन्य प्रकार से उतना ही सुन्दर वर्णन किया है। उत्तर भारत में अद्वैत सम्प्रदाय के महान् शास्त्रकार कृष्ण-भक्त हुए। वे मूलत: तो महान् अद्वैताचार्य थे। ऐसे प्रकाण्ड अद्वैती जिसने समग्र अद्वैत सिद्धान्त की धाराओं को घोल कर पी लिया और अन्यों को पिलाया भी। ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया, जिस ग्रन्थ के अन्दर उन्होंने तब तक के अद्वैत-सिद्धान्त के विकास के आयाम थे, जितनी भी धारायें थीं, उन सब धाराओं को एकत्र कर और उनका विरोध करने वाली जितनी भी विचार धारायें थीं, उन सब विचार धाराओं का प्रतिवाद किया, खण्डन किया और कहा कि ये हैं अद्वैत के सारे सिद्धान्त-रहस्य। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने लिखा है -

गरूणां माहात्म्यान् निजविविध विद्यापरिचयात् श्रुतेर्यन्मे सम्यङ् मननपरिनिष्पन्नमभवत्।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थइामनं तदेतस्मिन्ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम्॥

गुरुओं के महात्म्य से और मैंने जो अन्यान्य विद्याओं का गहन एवं व्यापक अध्ययन किया इसके बल पर उपनिषदों का मनन करते-करते जो मक्खन निकला है, उन सबका बहुत प्रयत्नपूर्वक समावेश इस ग्रन्थ में मैंने किया है। यह है मधुसूदन सरस्वती जिनका महान् विशालकाय ग्रन्थ है अद्वैतसिद्धि। लेकिन यह सब अद्वैत, वेदान्त एक ओर था और दूसरी ओर थी उनकी अपूर्व कृष्ण-भक्ति। मैंने अभी जिस दक्षिण वाले कृष्ण-भक्त का उल्लेख किया था, ' कृष्णकर्णामृत' के रचयिता लीलाशुक, वे थे परम शैव। शैवों के कुल में जन्मे और शिव पंचाक्षरी का जप करने वाले थे। अपने विषय में स्वयं कहा -शैवावयं न खलु तत्र विचारणीयं पञ्चाक्षरीजपपरा:।

इसी प्रकार के एक और महान् कृष्ण-भक्त थे मधुसूदन सरस्वती जो प्रकाण्ड अद्वैती होने के साथ-साथ महान् कृष्ण-भक्त भी थे। उन्होंने सौ श्लोकों के कृष्ण स्तोत्र का निर्माण किया है जिसका नाम रखा 'आनन्द-मन्दाकिनी'। इस 'आनन्द-मन्दाकिनी' के अन्दर उन्होंने अपनी कृष्ण-भक्ति की संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को प्रवाहित कर रखा है। इसकी एक कल्पना में, कृष्णावतार की नरसिंहावतार के साथ अभिन्नता भी दिखाई है। अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं - आपने नरसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपु के वक्ष:स्थल को फाड़ दिया। तब आपके दोनों हाथ पूरे लाल-लाल हो गये उसके खून से। हिरण्यकशिपु के रक्त से जो लाली उन हाथों में आ गयी वही लाली अब प्रेम लीला में गोपिकाओं के स्तनों के

कुंकुम से दुगुनी होती चौगुनी होती समाप्त नहीं हो रही है -

भक्तानुग्रहकातरेण भक्ता कृत्वा नृसिंहाकृतिं रागान्धस्य पुरा हिरण्यकशिपो-र्वक्षःस्थली पाटिता।
तेनाभूत् तव पाणिपङ्कजयुगे रागश्च राधापते गोपीनां कुचकुंकुमैर्द्विगुणितो नाद्यापि विश्राम्यति॥

आज भी वह लाली पूरी नहीं हो पायी है, समाप्त नहीं हुई है, वह वीरता के खून की लाली अब प्रेम-रस के कुंकुम की लाली से बढ़ती ही जा रही है। कैसी मार्मिक कल्पना है ? एक ही हाथ दुष्ट निग्रह के रौद्र रस का और शिष्ट परिपालन की कोमल लीला के शृङ्गार रस का भी प्रतीक है।

इस प्रकार हमारे भारत की प्राचीन परम्परा के अन्तरगत चिन्तन करने वाले, जो कवि हैं, उन लोगों के लिए अवतारों में किसी भी प्रकार का कुछ भी भेद नहीं है, सारे अवतार अवतार हैं, ईश्वर का स्वरूपांश पूरा है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने तो कह ही दिया है -

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

[श्रीमद्भगवद्गीता, १०-४१]

जहाँ-जहाँ जो भी विभूतिसम्पन्न श्रीयुक्त या ओजस्वी स्वरूप है - सामर्थ्य का, वह सब मेरा अर्थात् भगवान् का अंश है।

वैसे महाभारत के कृष्ण ने हमारे जैसे लोगों की दृष्टि से बहुत सारे कार्य कर डाले, जिनकी आलोचना आज भी होती है। लोग पूछते हैं टीका-टिप्पणी करते हैं, ऐसा क्यों किया? कैसे किया ? बड़ा अन्याय किया इत्यादि। वैसे तो इस प्रकार के कुछ कार्य राम के भी हैं, जैसे सीता के परित्याग को लेकर जो प्रश्न है, वह आज भी समाहित नहीं हुआ। सीता का परित्याग कैसे न्याय संगत कहा जा सकता है ? वाल्मीकि में तो रामचन्द्र जी कहते हैं कि - यह राम तो मूर्ख है, 'बालिश' है कि रावण के घर में दस माह तक रही सीता को अपने घर पर ले आये हैं - ऐसे लोग कहेंगे, इस लोकापवाद से बचने के लिए मुझे यह सब करना पड़ा, यह राम बाद में कहते हैं। लेकिन शुरू में यदि उन्होंने एकदम निष्ठुरता जैसी स्थिति बताई, तो वह क्यों ? इसे आजकल का समाज आसानी से समझ नहीं पाता। यही स्थिति वालि के वध की है। पीछे से छिप कर जो उन्होंने वालि को मारा था, उस वालि-वध का प्रश्न हमारे प्राचीन

टीकाकारों से लेकर के आज तक सुलझा नहीं है। यद्यपि इस प्रकार के इक्के-दुक्के विचित्र से कार्य राम के जीवन में भी हैं, लेकिन श्रीकृष्ण के तो जो कार्य हैं उनमें न्याय और अन्याय को तिलांजलि दी जाती है। वे जो कहते या करते हैं वही धर्म या कानून है। जैसे धर्मशास्त्रकार ने लिखा है - धर्म क्या है ? हाँ, धर्म की ऐसी-ऐसी परिभाषा है। लेकिन बड़े लोगों के साथ इस नियम को तुम लागू करने की भूल मत करना। यह कहते हुए महर्षि गौतम ने अपने धर्मसूत्र के प्रारम्भ में ही लिख दिया सूत्र - 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रम: साहसं च महताम्। अवर - दौर्बल्यात्'। अर्थात् धर्म का व्यतिक्रम और साहसिक कार्य अक्सर महापुरुषों के जीवन में देखा गया है। तुम अपने साधारण मापदण्ड के आधार पर इनके आचरण को यह अधर्म है, धर्म के विपरीत है ऐसे कहने की चेष्टा मत करो।

जैसे व्यास का तो जन्म ही कुछ उलटे ही क्रम से हुआ। आप अगर कहानी सुनेंगे तो कहाँ से इनके पिता ऋषि पराशर ने, किस स्थान पर, किस समय, किस स्त्री के साथ मिल कर व्यास को जन्म दिया, यह कहानी हमलोग भली-भाँति जानते हैं। और उस समय वह स्त्री एक कन्या ही थी। कन्या के पुत्र के रूप में ही व्यास का जन्म हुआ था। माँ के कन्याभाव की दशा में ही धर्मशास्त्रीय नियमों व सामाजिक मर्यादा-व्यवस्थाओं के उल्लंघन से जो प्रसूति हो जाती है, ऐसे पुत्र को संस्कृत में 'कानीन' कहते हैं। यह धर्म - धर्म भला क्या है ? हम इसको ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते हैं। क्यों ? महाभारत की कथा को ही देखो। सबसे पहले इसके लेखक एवं मूल प्रवर्तक महर्षि व्यास स्वयं जन्मा एक कन्या की कोख से। उसके बाद महर्षि पराशर ने उस लड़की से कह दिया - घबराओ मत। तुम्हारा कन्यात्व सुरक्षित रह जायगा। हम भारतीय संस्कृति की बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करते हैं। किन्तु लगता है प्राचीन युगों में भी सामाजिक विकृतियाँ कभी-कभी हुआ करती थी। संस्कृत भाषा में ऐसी अनहोनी विकृतियों के लिए भी प्रावधान रखा गया। कैसे प्राविधान ? कन्या के पुत्र के लिए भी शब्द प्रचलित था। अन्य किसी भाषा में आप को संभवत: इस के लिए शब्द नहीं मिलेगा। लेकिन अजीब-सी बात है, संस्कृत भाषा में कन्या से उत्पन्न पुत्र के लिए अलग से विशिष्ट शब्द है। पाणिनि ने उसके लिए सूत्र बनाया है - 'कन्याया: कनीन च'। आज कल लोग सोचते हैं कि विधवा-विवाह आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता प्रभावित समाज की देन है। लेकिन हमारे धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त ज्योतिष-शास्त्र में भी इसका उल्लेख है। अन्य भाषाओं में शायद ही इस अर्थ का कोई शब्द प्रचलित हो। लेकिन संस्कृत भाषा में जो विधवा पुन: विवाह रच कर दुबारा दाम्पत्य जीवन शुरू करती है, उसके लिए पृथक शब्द है - 'पुनर्भू:'। ऐसी विधवा से

पुनर्विवाह करने वाले पुरुष को 'पुनर्भू: पति:' कहा गया। ज्योतिष-शास्त्र में ऐसा प्रयोग है - ऐसी मेरी स्मृति है। जानकार विद्वान् संदर्भ दे सकेंगे। ऐसी पुनर्विवाहित विधवा के पुत्र के लिए धर्मशास्त्र में प्रचलित शब्द है, 'पौनर्भव'। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने पिता की सम्पत्ति में धर्म-व्यवस्था के विपरीत उत्पन्न ऐसे पुत्रों के अधिकार के विषय में भी बहुत जटिल चर्चाएँ की हैं।

अब महाभारत की कथा में धर्म के व्यतिक्रम के विषय में स्थिति स्पष्ट करना उपयोगी होगा। जो गौतम का धर्म सूत्र मैंने अभी उद्धृत किया 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रम: साहसं च महताम्'। इसमें संकलित बड़े लोगों के साहस की बात को पूरा-पूरा महाभारत के अन्दर आप लागू कर सकते हैं। व्यास और उनके पुत्र शुक से लेकर आखिरी तक। प्रारम्भ हुआ व्यास के जन्म से और यह उलटा क्रम चला कौरवों और पाण्डवों तक। धर्मशास्त्र की व्यवस्था है - 'अमृते जारज: कुण्ड: मृते भर्तरि गोलक:' - अर्थात्, पति जब जीवित है, मरा नहीं तब स्त्री के दूसरे पुरुष के साथ संगम से जो पुत्र होता है उसके लिए शब्द है 'कुण्ड:' और 'मृते भर्तरि' यनी पति की मृत्यु के बाद जब नियोग से पुत्र जन्म लेता है, उसके लिए शब्द है, 'गोलक:'। यानी, समाज के अन्दर इस प्रकार की विकृत सामाजिक स्थिति के लिए संस्कृत भाषा एवं धर्मशास्त्र के अन्दर प्राविधान था। महाभारत कथा में पाण्डव 'कुण्ड' हैं। पाण्डु तथा धृतराष्ट्र 'गोलक' हैं। इस प्रकार महाभारत के दोनों पक्षों के मूल नायक अधर्म के मार्ग से ही आये। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि महाभारत के ऐसे ही संदिग्ध व्यक्तियों के गुणगान और गौरव-गाथा को धर्म का आधार मान लिया गया रामायण की बराबरी में। इसी जटिल प्रश्न पर लगभग तीस वर्ष पूर्व मैंने यह रोचक श्लोक सुना उत्कल के एक वृद्ध पण्डित जी से -

कानानस्य मुने: स्वबान्धववधूवैधव्यविध्वंसिनो
नप्तार: खलु गोलकस्य तनया: कुण्डा: स्वयं पाण्डवा: ।
तेऽमी पञ्च सदैकयोनिनिरतास्तेषां गुणोत्कीर्तनाद्
धर्म: स्यादिति यद् वदन्ति विबुधा: धर्मस्य सूक्ष्मा गति: ॥

यह श्लोक कहता है - ऐसे व्यक्तियों के गुणों के गान से अर्थात् महाभारत के पढ़ने से, महाभारत की कथा का पारायण करने से यदि धर्म होता है और प्रबुद्ध विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं तो धर्म की गति सचमुच गम्भीर है, इतनी सूक्ष्म है कि हम सब की समझ से परे है। ऐसा कह कर किसी निकट भूतकाल के पण्डित ने धर्म की सूक्ष्मता की चमत्कार पूर्ण व्याख्या की है।

इस श्लोक की गुत्थी को थोड़ा स्पष्ट कर देता हूँ। महाभारत कथा को देखिये। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य नि:सन्तान मर गये। तब सत्यवती के आदेश से उनकी कन्यावस्था के पुत्र व्यास ने भाई विचित्रवीर्य की विधवाओं के माध्यम से नियोग प्रथा के अनुसार पुत्रोत्पादन किया। ये पुत्र थे धृतराष्ट्र और पाण्डु। पाण्डु पर शाप के कारण पाण्डु भी पुत्रोत्पादन के लिए अक्षम थे। परिणामस्वरूप कुन्ती और माद्री ने पति के जीवित रहते पाँच पुत्रों को पाया। इस प्रकार मूल पुरुष व्यास 'कानीन' था, पाण्डु 'गोलक' था और सभी पाण्डव थे 'कुण्ड'। अर्थात् तीनों पीढ़ियों के पुत्र अवैध रूप में जन्मे थे अतएव सब के सब धर्म विरुद्ध थे। ऐसे पाण्डवों के गुणगान से धर्म की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इस श्लोक के द्वारा यही पहेली उठाई गयी है।

महाभारत की समस्त घटनाओं को शुरू से लेकर आखिरी तक, सूत्रधार के रूप में चलाने वाले एक व्यक्ति हैं मायावी कृष्ण। इसी प्रकार के विवाद में जन्मे इस कथा के दूसरे 'कनीन' कर्ण को अर्जुन के हाथ से हरा कर गिराने के लिए श्रीकृष्ण ने क्या-क्या माया का प्रयोग किया वह लम्बी कहानी है। कर्ण का व्यक्तित्व महाभारत में अन्य सबसे ऊँचा था। कर्ण की बराबरी करनेवाला कोई व्यक्ति था ही नहीं। अतएव छल-कपट से ही उसे मौत की घाट उतारा कृष्ण ने। यह सारा धर्म व्यतिक्रम उनके समक्ष धर्म हो जाता है। यही 'धर्मस्य सूक्ष्मागति:'। महाभारत की व्याख्या-परम्परा में प्रसिद्ध वाक्य है - 'षड्भि: कर्णो निपातित:'। यही कृष्णावतार का गूढ़ रहस्य है। रामायण की स्थिति कुछ भिन्न है। वाल्मीकि तो महान् कवि थे । उन्होंने राम के भगवत्स्वरूप का कलात्मक व्यञ्जना शैली से कहीं कहीं संकेत मात्र दिया। यही उनकी काव्यकला की विशेषता है। इसीलिए वे आदि कवि हैं राजा भोज के शब्दों में 'मधुमय भणितीनां मार्गदर्शी महर्षि:'। रामकथा के आधार में जो देवताओं की भूमिका है उसके लिए वाल्मीकि का शब्द है मन्थरा के सन्दर्भ में - 'देवकार्यसमुद्यता'। यह मन्थरा देवकार्य करने को तत्पर है। यह कहाँ से आयी है ? वाल्मीकि इसके उत्तर में 'यतोजाता', यह रहस्यात्मक शब्द लिखकर चुप हो गये। शुरू-शुरू से ले कर आखिरी तक अनेक स्थानों पर वाल्मीकि ने इस 'देवकार्य' शब्द को दोहराया है। देवकार्य को करने के लिए आए रामचन्द्र। देवकार्य के लिए आए वानर-नायक। मन्थरा के विषय में तो ऐसे स्थान पर कहा जहाँ मन्थरा का कथा में प्रथम प्रवेश कराया।

एक बार मेरे मन में कुछ कुतूहल-सा जागृत हुआ कि वाल्मीकि के रामायण में, राम के शत्रुओं ने उनके बारे में क्या क्या सोचा ? क्या क्या कहा ? शत्रुओं ने उनके बारे में कहीं कोई

अच्छी बात भी तो कही या नहीं ? या सब विपरीत बातें ही कहीं ? क्या शत्रुओं ने भी इस मर्यादा पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कह दीं कि जिसके कारण इनका व्यक्तित्व और 'दशाङ्गुलम्' ऊँचा हो जाये। शत्रुओं ने भी अगर रामचन्द्र में कुछ गुण देखे, तो रामचन्द्र का महात्म्य और बढ़ेगा - इस विचार से प्रेरित होकर शत्रुओं की दृष्टि में राम --(*Vālmīki's Rāma*, a new perspective, from the viewpoint of his enemies) -- राम के प्रमुख शत्रुओं में रावण के बाद सर्वप्रथम है मारीच। यह था वैकुण्ठ में विष्णु का परिचारक। विष्णु के शाप से राक्षस हुआ। ताटका के पुत्र के रूप में ऋषियों के साथ अभद्रता करने पर अगस्त्य का शाप गिरा। विश्वामित्र की यज्ञ रक्षा के प्रसंग में इसने राम बाण का रस पहली बार चखा था। बस उतना ही पर्याप्त हो गया जीवन भर के लिए। इस प्रकार का एक अध्ययन किया था। क्या उनके परम् शत्रु रावण ने ऐसी कुछ बात कही, जिसने अन्त तक यही माना और कहा कि राम एक साधारण मानव (तुच्छ नर) से कुछ भी बड़ा नहीं है।

एक बार भुक्तभोगी होने के बाद जब रावण ने मारीच के पास जा कर कहा, सीता के अपहरण के लिए मैंने व्यूह-रचना पूरी कर ली है। इसे कार्यान्वित करने में तुमको मेरा साथ देना है। तुम्हारी माया का प्रयोग करना है, तुम्हारी माया-शक्ति पर ही इस योजना की सफलता निर्भर है। मारीच की कहानी बहुत आँख खोलने वाली है। सब से पहली बार जब रावण पहुँचा तब तो मारीच ने उसको डराकर भगा दिया था। अरे, तू क्यों मरने जा रहा है ? जा, यहाँ से भाग ! राम को छेड़ने का विचार ही मन से निकाल दे। इसी में तेरा कल्याण है। तब रावण चला भी गया। उसके बाद दुबारा दृढ संकल्प ले कर आया कि मैं इसकी बात में नहीं अऊँगा, इसको माया से राम को वंचित करना ही होगा। तब मारीच अपने हृदय की बात निर्भीक होकर रावण को कहता है। उसी प्रसंग में वाल्मीकि रामायण का एक मार्मिक एवं उदात्त राम-प्रशंसात्मक प्रसिद्ध वाक्य है जो मारीच के मुख से सहज रूप में निकला है। मारीच कहता है -'रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः'। रावण के सभी आरोपों का खण्डन करता हुआ मारीच कहता है - अरे राम को तुमने उलटा समझ रखा है। राम तो धर्म का मूर्तिमान् अवतार है। यहाँ पर उल्लेखनीय बात यह है कि वाल्मीकि ने एक भारी शत्रु के मुँह से यह बात कहलवायी है। अन्यों के मुँह से तो 'अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्, धर्मात्मा सत्यसंधश्च----'इत्यादि उद्गार तो प्रसिद्ध है ही। किन्तु मारीच जैसे उद्भट शत्रु के मुँह से भी कहलवाया। इसी प्रकार से और बहुत सारी बातें हैं जिनकी चर्चा मैं यहाँ नहीं करूँगा। किन्तु रावण के मुँह से कैसे कहलवाया और कब कहलवाया, यह सबसे अधिक रोचक है।

मैं कह चुका हूँ कि रावण तो अखिर तक कभी राम को एक साधारण, तुच्छ जन्तु के अलावा कुछ मानता ही नहीं था। पराजय पर पराजय चखने के पश्चात् एक स्थान पर तो निराशा की स्थिति में उसने कहा था, जो हो गया, सो हो गया। लेकिन मैं तो झुकूँगा नहीं। रावण कहता हैं वहाँ - 'द्विधा भंज्येयं' - मैं टूट जाऊँगा, 'न नमेयं कदाचन' - लेकिन झुकूँगा नहीं। यह रावण ने अपनी प्रकृति के अनुरूप कहा। कुम्भकर्ण के मारे जाने पर रावण को अप्रत्याशित आघात अवश्य पहुँचा किन्तु तब भी यह नहीं कहा कि यह कोई दैवी शक्ति है। किन्तु कुम्भकर्ण के बाद की जो घटनायें हैं, जहाँ रावण के सारे सेनापति एक के बाद एक हारते-हारते चल बसे और उनके सर्वश्रेष्ठ सेनानायक अतिकाय की भी मृत्यु हुई तब वाल्मीकि ने उसके मुँह से निकलवाया - 'तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम्' - लगता है कि स्वयं नारायण ही राम के रूप में लड़ने आये हैं। इस प्रकार स्वयं रावण के द्वारा भी वाल्मीकि ने राम के ईश्वरावतारत्व को स्वीकार करवाया।

रामायण में वाल्मीकि की परिकल्पना के अनुसार अन्य ऐसे कतिपय पात्र भी हैं जिन्होंने राम के ईश्वरावतारत्व का स्वयं अनुभव किया, साक्षात्कार किया। आश्चर्य सा होता है कि उनमें से एक है स्वयं रावण की धार्मिक पत्नी मन्दोदरी। मन्दोदरी यद्यपि रावण के सामने तो नहीं कह सकती थी, रावण के सामने यह बात खुलकर संभवत: बेचारी ने कही होती तो दो टुकड़े हो जाती। किन्तु अन्त में जब रावण मरा और रावण के शरीर पर बिलखती रोने लगी तब यह स्पष्ट कहती है। रामायण में एक पूरा सर्ग भर मन्दोदरी का विलाप है। उसके अन्दर वह बोलती है कि मैंने आपको कई बार कहा कि राम को साधारण मनुष्य नहीं समझो। ये स्वयं भगवान् नारायण हैं। लेकिन मेरी बात नहीं मानी। इस प्रसंग में मन्दोदरी खुल कर कहती है कि मैंने राम में नारायण के स्वरूप का साक्षात्कार किया। इसी प्रकार था अनुभव मारीच का, इसी प्रकार तारा का, और इसी प्रकार कुम्भकर्ण का। कुम्भकर्ण ने तो रावण को भली-भाँति समझा दिया था कि अरे रावण तुम क्या कर रहे हो, क्या करने जा रहे हो ? तुम उनके हाथ अवश्य मरोगे। उसके बाद जब रावण क्रोध में कुम्भकर्ण को मारने लगा तब कहा तुम्हारे हाथ से मरने की अपेक्षा उनके हाथ से मरना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। ऐसा कहकर ही कुम्भकर्ण मारीच की तरह रणभूमि जाता है।

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में राम के ईश्वरावतारत्व की झलक कहीं-कहीं इधर उधर से मिल तो जाती है, लेकिन आम तौर पर उनका मनुष्य रूप ही सर्वत्र उभरता है और

प्रकट है। ईश्वरत्व तो नितान्त गूढ़ है। यह वाल्मीकि की काव्यकला का रहस्य है। राम और कृष्ण की तुलना के संदर्भ में और दो तीन बातें विचारणीय हैं। भगवद्गीता में एक प्रसिद्ध श्लोक है। एक प्रसंग में अर्जुन को शंका होती है कि मैं कैसे मानूँ कि आपने यह बात पहले ही कह दी है।

कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति----

जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने निष्काम कर्मयोग की बातें पहले सूर्य को कही, उन्होंने मनुष्य को आदि आदि, तब अर्जुन यह पूछ बैठा। तब भगवान् श्रीकृष्ण खुलकर अपने ईश्वरी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं और कहते हैं -

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

[श्रीमद्भगवद्गीता, ४-५]

हे अर्जुन, मेरे बहुत जन्म हो चुके हैं और तेरे भी। उन सारे जन्मों को मैं तो जानता हूँ, तू नहीं जानता है, जान नहीं पाता यही तेरा मेरा अन्तर है। इस प्रकार खुल कर बताने वाला जो कृष्ण है कि हाँ, मेरे जितने भी पूर्व जन्म हैं, उन सारे जन्मों को मैं जानता हूँ, ऐसे वाल्मीकि रामायण के अन्दर से, राम के कथनों या संवादों में से कहीं से, कुछ निकाल कर देखिए। कुछ नहीं निकलेगा। वास्तव में निकल नहीं सकेगा। कारण भी स्पष्ट है - दोनों अवतारों की प्रकृति में मौलिक अन्तर। भगवान् श्रीकृष्ण की और भगवान् श्रीरामचन्द्र की पृथ्वी पर लीला है, जीवन-लीला है, उस लीला के बुनियाद ही भिन्न हैं। एक सहज मानव-गाथा है और दूसरी ईश्वर लीला है। इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण का ही एक और वाक्य भगवद्गीता से लेकर गीता के अमृत-वचनों की गहराई से भी आप को परिचित कराना चाहता हूँ। यह श्रीकृष्ण की भगवद्गीता के पारम्परिक विचार-मंथन पर एक नई एवं रोचक व्याख्या होगी।

एक स्थान पर भगवान् कहते हैं -'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपहोनञ्च'। मैं सब के हृदय में बैठा हूँ इत्यादि। यहाँ तक तो ठीक ही है, अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से तो बिल्कुल यर्थाथ भी है।'जीवो ब्रह्मैव नापर:' - के अद्वैत सिद्धान्त की ही प्रतिध्वनि है। आगे इसी श्लोक का उत्तरार्ध ही आज मेरी चर्चा का केन्द्र-बिन्दु है। पूरा

उत्तरार्ध भी नहीं, उसका केवल पहला टुकड़ा। देखिये संस्कृत भाषा का और इस देश की प्राचीन परम्परा में पले मनीषियों का अद्भुत बौद्धिक व्यायाम।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्। [श्रीमद्भगवद्गीता, १५-१५]

जितने वेद हैं ये सारे वेद किसकी कहानी कहते हैं ? मेरी कहानी। समस्त वेदों के द्वारा किसका मनन है ? मेरा, कृष्ण का। समस्त वेदों के सहारे मानव मात्र को किसका ज्ञान प्राप्त करना है ? मेरा ही ज्ञान। मेरे अलावा वेदों से ज्ञातव्य और कोई वस्तु है ही नहीं। इतना ही नहीं। वेद को जानने वाला और वेद का अर्थ-निर्णय करने वाला भी मैं ही हूँ।

ऐसी उन्मुक्त घोषणा करते हैं भगवान् श्रीकृष्ण। ठीक इसके विपरीत है रामायण में राम की घोषणा। 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' - मैं अपने को सामान्य मनुष्य समझता हूँ। दशरथ का पुत्र राम हूँ। कृष्ण का उद्गार इसके बिलकुल भिन्न है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। समस्त वेदों के ज्ञान की धुरी मैं ही हूँ। ये हैं परस्पर विरुद्ध विचित्र धाराएँ इन दो अवतारों की।

कृष्ण के इस वाक्यांश की एक सुन्दर मार्मिक व्याख्या है। संस्कृत वाक्य रचना के नियमों में, कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि के वाचक शब्दों का कोई निश्चित क्रम नहीं है। इन शब्दों को आप चाहे जिस क्रम में रखिए, अर्थ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में अगर आदमी कहेगा - 'The teacher teaches the student' इसका अर्थ संगत है। किन्तु यदि आप क्रम बदलकर कहें - 'The student teaches the teacher' तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। संस्कृत में वाक्य रचना की स्थिति भिन्न है। 'गुरुः शिष्यं अध्यापयति, शिष्यं गुरुः अध्यापयति, अध्यापयति गुरुः शिष्यम्, अध्यापयति शिष्यं गुरुः'- चाहे जितने परम्युटेशन कॉम्बिनेशन (permutation-combination) करें इन शब्दों के, आप चाहे जिस क्रम में इन शब्दों को रखते जायें, अर्थ में तनिक भी अन्तर नहीं होगा। अर्थ वही रहेगा। यह संस्कृत भाषा की विलक्षणता है। अन्य भाषाओं में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। प्रायशः भाषाओं में कर्ता, कर्म आदि के वाचक शब्दों का कुछ क्रम या स्थान निर्धारित है। अंग्रेजी में तो अर्थ अधिक विकृत हुआ है। अन्य भाषाओं में शब्दों के निश्चित स्थान में उलट-फेर करना भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होता है। अतएव विपरीत क्रम में कोई लिख-बोल नहीं सकता है। लेकिन संस्कृत

में नहीं है। यहाँ शब्द-क्रम के विषय में वक्ता को पूरा स्वातन्त्र्य है। एक पूर्व पीढ़ी के विद्वान् ने इसका लाभ उठा कर 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' की व्याख्या में चमत्कार किया। इसमें जो 'एव' शब्द है, इस 'एव' को उस स्थान से हटा कर आप इस वाक्य की रचना या पुनर्रचना करते जाइये तो देखेंगे कि इसके कितने विचित्र अर्थ निकलते हैं। बहुत सारे शास्त्रों के वेद-व्याख्या के मर्म उद्घाटित होते हैं। यही थोड़ा सा संकेत करना चाहता हूँ।

पहले 'एव' शब्द को वेद के साथ लीजिए, 'वेदैरेव सर्वैः अहम् वेद्यः'। मेरा ज्ञान यानी ईश्वर तत्व का ज्ञान, प्राप्त करना हो तो कहाँ से प्राप्त होगा ? कौन सा साधन है ? केवल वेदों से। उसका साधन मात्र वेद हैं। दूसरा कोई साधन नहीं है। भावार्थ यह हुआ - अगर किसी भी व्यक्ति को आत्मतत्त्व का स्वरूप या रहस्य जानना हो तो वेद के पास ही जाना होगा। इसीलिए आचार्य शंकर भगवत्पाद - 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस वाक्य को बार-बार उद्धृत करते हैं। इसका अर्थ है, (आत्मा) स्वयं उपनिषद् में है। उपनिषद् के अलावा और कोई साधन नहीं है उस परमतत्त्व को जानने के लिए। इस प्रकार 'एव' शब्द की इस स्थन से 'वेदैरेवाहंवेद्यः' कहने पर वेदमात्र गम्य आत्मतत्त्व के विषय में वेदान्त के इस सिद्धान्त को बताने वाला हो गया यह वाक्य।

उसके बाद अगला शब्द है 'सर्वैः'। 'एव' को उसके साथ अगर लेंगे वाक्य बनेगा - 'सर्वैरेव वेदैरहं वेद्यः '। भगवद्गीता की व्याख्या करते हुए आजकल के व्याख्याकार कहते हैं कि भगवद्गीता के एक अध्याय का तात्पर्य 'सांख्य' है, दूसरे अध्याय का 'योग' है, तीसरे का 'कर्म' है आदि आदि। हमारे प्राचीन आचार्य कभी भी ऐसी व्याख्या पर मान्यता की मोहर नहीं देते। पूरी भगवद्गीता का एक अर्थ है। पूरी भगवद्गीता का एक तात्पर्य होगा। इसमें टुकड़े-टुकड़े कर के अर्थ करना तो हमारे मनीषी आचार्यो के बाहर था, ग्रन्थों की एकवाक्यता हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है। इस दृष्टि का मूल उत्स पूर्व मीमांसा है। पूर्व मीमांसा को वाक्य-शास्त्र कहा गया। इसका अर्थ यह ठहरा कि वाक्यों की सही व्याख्या कर वक्ता या लेखक के तात्पर्य का यथार्थ बोध कराने वाला शास्त्र है यह। इसके लिए सारे नियम मीमांसा में प्रतिपादित हैं। एकवाक्यता की दृष्टि इसी मीमांसा की है। यह समग्रता की दृष्टि है। खण्डित दृष्टि का इसमें कोई स्थान नहीं है। आज सब लोग होलिस्टिक होलिस्टिक चिल्लाते हैं। यह अमरिका से आयातित शब्द आज का फैशन बन गया है। सब के मुँह में है। यह कोई अमरिका का नया आविष्कार नहीं। दो हजार वर्ष पूर्व हमारे शब्द तत्व विचारकों के द्वारा

एकवाक्यता सिद्धान्त के रूप में मीमांसा ने इसे प्रतिष्ठापित किया और परवर्ती समस्त आचार्यो ने अपने-अपने दर्शन की व्याख्या के लिए इसको आधार सिद्धान्त माना है।

मूल प्रश्न यह है - क्या एक उपनिषद् का एक अर्थ माना जाये और दूसरे उपनिषद् का दूसरा अर्थ ? बृहदारण्यक उपनिषद् का कुछ और तात्पर्य है और छान्दोग्य उपनिषद् का तात्पर्य कोई भिन्न ? यह तो सही है कि तैत्तिरीय उपनिषद् में पंचकोष की चर्चा है और माण्डूक्य उपनिषद् में सुषुप्ति आदि अवस्था-त्रय की चर्चा है। यह सब बहिरङ्ग भेद तो है लेकिन अन्तिम 'गम्य', 'ध्येय', 'प्रतिपाद्य' तो एक ही है। कोई अन्तर नहीं, जरा सा भी अन्तर हो नहीं सकता। आप चाहे जिस उपनिषद् के माध्यम से समझें, चाहे जिसको अपनी साधना का आधार बनाएँ, गम्य एक ही है, लक्ष्य वही एक परम तत्व परमात्मा है। गीता के उक्त वाक्य में 'एव' को 'सर्वैः' से जोड़ने से शास्त्रों की पारम्परिक व्याख्या का जो बुनियादी एकवाक्यता सिद्धान्त है उसका रहस्य इसी गीता वाक्य से खुलेगा। यदि आप 'सर्वैः' एवं 'वेदैः' के साथ 'अहं वेद्यः' को जोड़ेंगे तो 'सर्वैरेव वेदैः' कहने से अर्थ मिलेगा समस्त वेदों के द्वारा ही, अर्थात् किसी एक वेद से या वेद के भाग से नहीं। इस प्रकार यदि केवल एक अंश के माध्यम से तुम तत्व को जानने का प्रयास करोगे, तुम तत्व की तरफ नहीं जाओगे, तुम अतत्व की चारों ओर मण्डराते रह जाओगे। इस चर्चा का निष्कर्ष यह है - 'सर्वैः वेदैः अहं वेद्यः' - कहकर भगवान् ने वेदों का वास्तविक अर्थ पाने के लिए खण्डित दृष्टि का परित्याग कर समग्रता की दृष्टि से वेदार्थ को समझने का आह्वान दिया।

अब तीसरे शब्द पर आते हैं। यह है 'अहम्'। इसके साथ 'एव' को सम्बद्ध करने से 'अहमेव वेद्यः' यह वाक्य निकलेगा। इसका अर्थ होगा - वेदों के द्वारा ज्ञातव्य पदार्थ केवल कृष्ण हैं, अर्थात् परमात्मा। यद्यपि वेदों को इधर उधर से देख-पढ़कर लोग समझ बैठते हैं कि वेद में इतिहास का, भूगोल का, गणित का, विज्ञान का, यज्ञ-यागादि का, धर्म का, राष्ट्रीयता इत्यादि का सारा ज्ञान भरा पड़ा है। किन्तु यह सभी ज्ञान बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग अर्थ तो मात्र श्रीकृष्ण-परमात्मा है। 'अहमेव' कहने से वेद के इस महत्त्वपूर्ण परमरहस्य का बोध होगा।

अब चौथा एक ही शब्द बचा - 'वेद्यः'। 'वेद्य एव' कहने से शाङ्कर वेदान्त की दृष्टि से नितान्त महत्वपूर्ण लाभ है। इसका अर्थ होगा कि आत्मतत्त्व को केवल जानना है। जानने के अलावा और कुछ करना ही नहीं। उनकी सेवा-भक्ति करना उपासना करना, उनका कर्म करना - यह सब नहीं। मात्र ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्य शङ्कर के अनुसार मात्र ज्ञान ही परम्

श्रेय का साधन है - न भक्ति, न सेवा, न उपासना, न कर्म, न संन्यास, न योग, ना ही और कुछ। ज्ञान, मात्र ज्ञान अपेक्षित है परमात्मा का। ज्ञान के अलावा दूसरा कोई साधन है ही नहीं। शङ्कराचार्य का मूल सिद्धान्त है ज्ञान के बिना - 'ज्ञानविहीन: सर्वमतेन मुक्ति न भजति जन्मशतेन'। मुक्ति के लिए ज्ञान ही एकमात्र साधन है। इसके लिए 'अहं वेद्य एव, केवलं वेद्य:' - यह कथन शाङ्करवेदान्त का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। 'एव' को 'अहम्' के साथ जोड़ने से यह अर्थ सहजतया स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार जब 'एव' को अपने स्थान से हटा कर, एक एक शब्द के साथ जोड़ते जाते हैं तो विचित्र ढंग से एक आश्चर्यजनक ढंग से हमारे शास्त्रों के अनेक गूढ़ रहस्य परत-दर-परत खुलते जाते हैं। यह है भारतीय पाण्डित्य का अद्भुत् चमत्कार। अब मैं उस महापुरुष को मन ही मन प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मुझे यह मार्ग दिखाया। मैंने भी अपनी ओर से इस पद्धति का संचार अन्यत्र किया और अत्यन्त सुखद परिणाम भी पाये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामचन्द्र के सम्बन्ध में मनन करने में अपने विचारों की एक सुगठित पूरी समग्रता प्रस्तुत करने में मैं असमर्थ हूँ। कुछ बिखरे विचार ही आपके सामने रख सका हूँ। मैंने ऐसे कुछ बिखरे मोती आपके सामने रख छोड़े हैं इनको पिरो कर एक पूरा समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए पूरा अवकाश है।